खण्ड -द

भारतीय दर्शन में प्रमुख समस्याएँ

भाग (क)

धर्म एवं धर्मी की अवधारणा गुण द्रव्य के सम्बन्ध में

भारतीय दर्शन में 'धर्म एवं धर्मी' के सम्बन्ध की अवधारणा एक महत्त्वपूर्ण एवं जटिल विषय के रूप में चिन्तन किया गया है। दर्शन का मूल उद्देश्य वस्तु सत्ता का विश्लेषण करना है और जगत् के विश्लेषण करने पर हमें तीन प्रकार के तत्त्व प्राप्त होते हैं – धर्म, धर्मी एवं उनका परस्पर सम्बन्ध। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि इन तीनों को पृथक्-पृथक् सत्ता माना जाये या नहीं? न्याय-वैशेषिक दर्शन में इन तीनों को पृथक्-पृथक और सत् मानकर उनका विश्लेषण किया गया है। सांख्य दर्शन में धर्म धर्मी के ही परिवर्त्तनशील रूप माने गए हैं तथा इन्हें परस्पर विरोधी होने पर भी तादात्म्य कहा गया है। अतः वहाँ तादात्म्य के अतिरिक्त किसी सम्बन्ध की मान्यता नहीं है। वेदान्त दर्शन केवल धर्मी या ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करता है। उनके अनुसार धर्म धर्मी पर आरोपित किए जाते हैं, वास्तविक नहीं हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार केवल धर्म ही यथार्थ है, धर्मी या द्रव्य केवल मानस सम्प्रत्यय (कल्पना) है।[1] इसलिए सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। जैन तथा भाट्ट मीमांसक दर्शन भी तादात्म्य के अतिरिक्त किसी सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। प्रभाकर मीमांसक सम्बन्ध को स्वीकार तो करते हैं किन्तु पूर्णतः उस रूप में नहीं, जैसा कि न्याय-वैशेषिक में प्रतिपादित है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'धर्म एवं धर्मी' के सम्बन्ध की अवधारणा का जितना मौलिक चिन्तन न्याय-वैशेषिक दर्शन में किया गया है उतना अन्य दर्शनों में नहीं। न्याय-वैशेषिक वस्तुवादी दर्शन है, उनके

अनुसार हमारे अनुभव द्वारा प्रस्तुत जगत् ही वस्तुतः सत् है तथा जो सत् है वह ज्ञेय एवं अभिधेय भी है। जगत् में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है तथा उनमें अनुभव होने वाला सम्बन्ध भी वस्तुतः सत् है। अन्य शब्दों में विषय और विषयी, धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी सभी वास्तविक सत्ता हैं।

भारतीय दर्शन में द्रव्य एवं गुण के सम्बन्धों की विवेचना की गई है। गुण (धर्म) एवं द्रव्य (धर्मी) के बीच क्या सम्बन्ध है? इसकी चर्चा सभी दर्शनों में की गई है, लेकिन न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्य एवं गुण के बीच सम्बन्धों को लेकर विस्तार से वर्णन किया गया है। न्याय-वैशेषिक में गुणों से भिन्न गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किया गया है। रूप, रस, गन्ध, आदि को हम 'गुण' कहते हैं। वस्तुओं में होने वाली क्रिया के लिए 'कर्म' शब्द का व्यवहार करते हैं। ये गुण और कर्म सदैव किसी आश्रय में ही रहते हैं, कभी भी अनाश्रित नहीं। इनके आश्रय के लिए ही "द्रव्य" शब्द का प्रयोग किया जाता है।

न्याय-वैशेषिक में बौद्ध दर्शन के आपत्तियों का भी खंडन किया गया है। न्याय-वैशेषिक का कहना है कि हमें किसी वस्तु का बोध "एक" वस्तु के रूप में होता है। अनेक गुणों के रूप में नही। यदि किसी घट का बोध 'स्पर्श' और 'रूप' इन दो गुणों के रूप में ही हो तो उन गुणों का क्योंकि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा बोध होता है, अतः एक आश्रय में उनकी प्रतीति असंभव है।[1] किन्तु हमारा अनुभव इस रूप में होता है– "जिस घट का मैं स्पर्श कर रहा हूँ वह वही है जिसे मैं देख रहा हूँ।" यदि दोनों गुण एक आश्रय में न हो तो दो भिन्न-भिन्न क्रियाओं देखना और स्पर्श करना-का विषय एक कैसे हो सकता है? इस एक विषयगत अनुभव को मिथ्या प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जितनी भी मिथ्या प्रतीतियाँ होती हैं, उनके अनुरूप कोई सम्यक् प्रतीति भी अवश्य होती है।[1] रस्सी में सर्प की मिथ्या प्रतीति उसी को हो सकती है जिसने पहले सचमुच का सर्प देखा हो। फिर, हमारे इस अनुभव का किसी बाद में होने वाले अनुभव द्वारा बाध भी नहीं होता। अतः दोनों इन्द्रियों द्वारा यह एकत्व की प्रतीति तभी संभव है जब दोनों इन्द्रियाँ अपने-अपने गुणों के साथ द्रव्य का भी प्रत्यक्षतः ग्रहण करें।

Scanned with CamScanner

मीमांसा ने द्रव्य की सिद्धि के लिए एक और तर्क दी है। यदि हमें बिना किसी द्रव्यभूत आधार के केवल गुणों का अनुभव होता हो तो गुणों के परिवर्तित हो जाने पर भी एक ही वस्तु की प्रतीति बने रहने का कोई कारण नहीं बताया जा सकता।[४] घट जब तक पकाया नहीं जाता श्याम होता है, पकने पर लाल हो जाता है। श्यामत्व के समाप्त हो जाने से घट समाप्त नहीं हो जाता और न लालिमा के पैदा होने से नया घट पैदा होता है। गुणों के बदलने पर भी हम उसी घट के बने रहने का अनुभव करते हैं "घट श्याम है" और "घट लाल है" इन दोनों अनुभवों का विषय एक ही घट है।

न्याय की ओर से उदयन 'द्रव्य' की सत्ता के पक्ष में बोलते हुए कहा है कि हमारा अनुभव यही है कि एक वस्तु में अनेक गुण हैं। उदाहरणार्थ हमें एक घट में अनेक गुणों का अनुभव होता है। यदि हम द्रव्य को स्वीकार न करें तो एकत्व का अनुभव कैसे होगा? गुणों में तो तादात्म्य स्थापित किया नहीं जा सकता, न एक गुण को दूसरे गुण का विशेषण माना जा सकता है।[५]

गुण और गुणी (द्रव्य) की एक साथ अनुभूति बिना उनके परस्पर सम्बद्ध हुए नहीं हो सकती। किन्तु बौद्ध सम्बन्ध की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। अत: उनके अनुसार न तो गुणों का परस्पर सम्बन्ध संभव है, न गुणों का द्रव्य से सम्बन्ध संभव है। यहाँ शंकर मिश्र बौद्धों से पूछते हैं कि यदि सम्बन्ध की सत्ता नहीं है तो हमें वस्तुएँ सम्बद्ध क्यो प्रतीत होती है? बिना सम्बन्ध की सत्ता के सम्बद्ध होने की प्रतीति संभव नहीं है। अत: द्रव्य और गुणो में किसी सम्बन्ध को स्वीकार करना पड़ता है। यह सम्बन्ध, नैयायिकों के अनुसार, 'समवाय' है। यदि समवाय को तादात्म्य से अभिन्न माना जाता है तो न गुणों की सत्ता रहेगी न द्रव्य की।

बौद्ध दार्शनिक द्रव्य को केवल काल्पनिक मानते हैं। उनके अनुसार यदि इन्द्रियों द्वारा द्रव्य का अनुभव हो सकता है तो प्रथम क्षण में, जिस समय निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, द्रव्य का अनुभव क्यों नहीं होता? बौद्धों के अनुसार प्रथम क्षण में होने वाला निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, जिसमें नाम, जाति आदि की प्रतीति नहीं होती, केवल विशिष्ट वस्तु (स्वलक्षण)

की प्रतीति होती है, यही वास्तविक प्रत्यक्ष है, क्योंकि इसमें नाम, जाति आदि के रूप में कल्पना का योग नहीं होता। हमारा द्वितीय क्षण में होने वाला सविकल्पक ज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इसमें नाम, जाति आदि के रूप में कल्पना का योग नहीं होता। हमारा द्वितीय क्षण में होने वाला सविकल्पक ज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इसमें नाम, जाति आदि की जो प्रतीति होती है वह वस्तु से गृहीत नहीं है, अपितु कल्पना है। द्रव्य का ज्ञान केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष के समय होता है, जिस समय नाम, जाति आदि काल्पनिक अंश आ जाते हैं। अत: द्रव्य की प्रतीति केवल काल्पनिक है, उसका बाह्य जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। नैयायिक यद्यपि निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष के भेद को स्वीकार करता है किन्तु उसकी दृष्टि से सविकल्पक प्रत्यक्ष में होने वाला जो वस्तु का ज्ञान है उसका आधार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही है।[६] सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिए भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आवश्यक है। इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा भी बाह्य वस्तु का ही ज्ञान होता है और इसलिए द्रव्य की सत्ता में अविश्वास का कोई कारण नहीं।

द्रव्य का लक्षण : गुण एवं द्रव्य की सत्ता के बारे में विस्तार से वर्णन के पश्चात् अगर हम इनके लक्षणों की बात करें तो हम पाते हैं कि इस सम्बन्ध में अनेक दार्शनिकों का अपना-अपना मत है। एक स्वतंत्र वस्तु के रूप में द्रव्य का लक्षण करते हुए श्रीधर ने न्यायकन्दली में कहा है – "अपनी प्रधानता की प्रतीति होना ही द्रव्यत्व की प्रतीति है"[७] तात्पर्य यह है कि जो वस्तु स्वतंत्र रूप से ग्रहण की जा सके वह द्रव्य है। हम जानते हैं कि गुणों को हम कभी स्वतंत्र रूप से ग्रहण नहीं कर सकते, गुण सदैव द्रव्य पर आश्रित होते हैं। किन्तु द्रव्य का लक्षण करते हुए कहते हैं – "कर्म से युक्त, गुण से युक्त तथा समवायिकारण द्रव्य है"। इस लक्षण में द्रव्य के तीन विशेषण बताए गए कर्म से युक्त होना, गुण से युक्त तथा समवायिकारण। यदि लक्षण में यह मानें कि "जो कर्म का आश्रय है वह द्रव्य है" इसमें कठिनाई है, क्योंकि सभी द्रव्यों में सदैव क्रिया नहीं होती और दूसरे आकाशादि विभु (सर्वव्यापक) द्रव्यों में कभी भी क्रिया नहीं

Scanned with CamScanner

होती। शंकर मिश्र ने इस कठिनाई को यह कहकर दूर करने का प्रयास किया है कि द्रव्य का यह लक्षण द्रव्य का चिह्न है, व्यवच्छेद धर्म नहीं।[८] तात्पर्य यह है कि यदि क्रिया है तो उसका आधार द्रव्य ही होगा, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक द्रव्य में क्रिया हो। इस समाधान के पश्चात् भी "कर्म का आश्रय होना" द्रव्य का लक्षण ठीक नहीं क्योंकि लक्षण के लिए तो व्यवछेदक धर्म होना आवश्यक है। प्रस्तुत लक्षण तो अव्यापक ही होगा।

कणाद के द्रव्य लक्षण का दूसरा विशेषण गुणों से युक्त होना है। न्याय लीलावती में इसे एक स्वतंत्र लक्षण के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रभाकर मीमांसक ने भी द्रव्य का यही लक्षण स्वीकार किया है। लेकिन चित्सुख तथा श्रीहर्ष ने इस लक्षण को दोषपूर्ण माना है। चित्सुख के अनुसार यह लक्षण अव्यापक है, क्योंकि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में स्थित द्रव्य, जो न्याय-वैशेषिक के मतानुसार निर्गुण होता है,[९] पर घटित नहीं होता। अतः यह लक्षण अव्यापक है।

कणाद के लक्षण का तीसरा विशेषण है समवायिकारण का द्रव्य होना। न्याय-वैशेषिक के अनुसार कोई कार्य जिसमें समवाय-सम्बन्ध से निवास करता है उसे समवायिकारण कहा जाता है। समवायिकारण केवल द्रव्य ही होता है चाहे कार्य द्रव्य, गुण या कर्म कुछ भी हों। यहाँ प्रश्न उठता है कि वह कौन सा कार्य है, जिसके बारे में यह कहा जा सकता है कि इसका समवायिकारण हमेशा द्रव्य होगा। शब्द, रूप आदि विशेष गुणों को यहाँ नहीं लिया जा सकता क्योंकि दिक् तथा काल आदि में इस प्रकार के विशेष गुण नहीं होते। 'संयोग' तथा 'विभाग' ऐसे कार्य हैं जो सभी द्रव्यों से सम्बद्ध होते हैं। आकाश आदि विभु द्रव्य भी दूसरे द्रव्यों के साथ संयोग या विभाग द्वारा सम्बद्ध होते हैं। संयोग और विभाग न्याय-वैशेषिक में गुण माना गया हैं, अतः इनका कोई समवायिकारण अवश्य होता है। अतः संयोग और विभाग के समवायिकारण के रूप में द्रव्य की परिभाषा उचित है न इसमें अव्याप्ति दोष है, न अतिव्याप्ति।

जैन दर्शन में गुण और पर्याय से युक्त वस्तु को द्रव्य कहा है।[१०] 'गुण' वस्तु के नित्य धर्म हैं और पर्याय अनित्य या परिवर्त्तित होते हुए धर्म हैं।

जब हम स्वर्ण से कुण्डल, हार आदि बनाते हैं तो स्वर्ण का रंग, चमक आदि धर्म परिवर्त्तन नहीं होते, ये नित्य धर्म अर्थात् गुण हैं। किन्तु स्वर्ण का आकार परिवर्त्तित होता रहता है। यह अनित्य धर्म अर्थात् पर्याय है।

द्रव्य के जितने भी लक्षण दिए गए हैं उनमें मूल लक्षण यही है कि गुणों का आश्रय द्रव्य है। गुण उसके धर्म हैं और द्रव्य धर्मी है।

जब हम यह कहते हैं कि गुणों का आश्रय द्रव्य है तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि गुण क्या है? उसका स्वरूप क्या है? वैशेषिक सूत्र में गुण का लक्षण करते हुए कहा गया है कि – "जो द्रव्य में आश्रित हो, गुण रहित हो और संयोग तथा विभाग के प्रति स्वतंत्र कारण न हो वह गुण है।"[११] इस लक्षण का तात्पर्य है कि गुण को द्रव्य में आश्रित होना चाहिए। किन्तु द्रव्य में आश्रित तो द्रव्य भी होते हैं, अतः द्रव्य को व्यावृत्ति करने के लिए "गुण रहित" जोड़ा गया। गुणों में गुण नहीं रहते। किन्तु यह लक्षण "कर्म" पर घटित हो सकता है, क्योंकि कर्म द्रव्य में आश्रित होता है और इसमें गुण भी नहीं रहते कर्म की व्यावृत्ति करने के लिए "संयोग और विभाग के प्रति कारण न होना" जोड़ा गया। कर्म संयोग और विभाग के प्रति कारण होता है। लक्षण में यह कहा गया है कि संयोग-विभाग के प्रति "स्वतंत्र" कारण न हो कर्म तो संयोग विभाग के प्रति स्वतंत्र कारण होता है, किन्तु संयोग-विभाग आदि स्वतंत्र कारण नही हैं, इनका कारणत्व कर्म पर निर्भर है। विश्वनाथ ने भाषा परिच्छेद में गुण का लक्षण करते हुए कहा है – "गुणों" को द्रव्य में आश्रित, निर्गुण तथा निष्क्रिय समझना चाहिए।[१२] यहाँ 'निष्क्रिय' शब्द से 'कर्म' की व्यावृत्ति तो होती है, संयोग-विभागादि की व्यावृत्ति नहीं होती। अतः यह लक्षण भी दोष युक्त है।

इस प्रकार से सामान्य व्यक्ति के लिए तो गुण द्रव्य के स्वरूप की प्रतीति कराने वाले इन्द्रिय ग्राह्य तत्व हैं। ये सदैव द्रव्य पर आश्रित होते हैं, द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकते। गुण द्रव्य के स्वरूप को व्यक्त करते हैं अतः स्थायी होते हैं जबकि कर्म द्रव्य की एक आकस्मिक विशेषता है अतः अस्थायी है।

Scanned with CamScanner

परिवर्त्तन प्रकृति का नियम है। इस भौतिक संसार में भी प्रतिदिन हम परिवर्त्तन होते देखते हैं। कुछ परिवर्त्तन स्वाभाविक होते हैं जैसे- हिम खंड का पिघलकर जल बन जाना, तपते समुद्र के जल का, भाप बन बादल बन जाना और पुन: बरस जाना, वृक्ष से पत्ते का झड़ जाना आदि। लेकिन कुछ परिवर्त्तन व्यक्ति के क्रियाकलाप द्वारा होते हैं जैसे-कुम्हार द्वारा मिट्टी से घड़ा बनाना, जुलाहा द्वारा धागों से कपड़े बुनना आदि। यहाँ मिट्टी स्वत: घट के रूप में परिवर्त्तित नहीं होती अपितु कुम्हार द्वारा की जाती है। धागे स्वत: पट के रूप में परिवर्त्तित नहीं होते, जुलाहे द्वारा किए जाते हैं। यह परिवर्त्तन क्यों होता है तो इसके निम्नलिखित उत्तर हो सकते हैं–

परिवर्त्तन संसार का स्वभाव है। संसार की सभी वस्तुएँ स्वत: परिवर्त्तित हो रही है। संसार की प्रत्येक घटना अपनी पूर्ववर्ती घटना द्वारा उत्पन्न कही जाती है। पूर्ववर्ती घटना किसी प्रकार प्रभाव डालकर उत्तरवर्ती घटना को 'उत्पन्न' करती है। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि परिवर्त्तन के लिए किसी चेतन सत्ता की आवश्यकता है क्योंकि चेतन सत्ता ही किसी पदार्थ को प्रभावित कर दूसरे पदार्थ के रूप में बदल सकती है किन्तु कुम्हार की शक्ति से प्रभावित होकर घट के निर्माण में सहायक होता है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि कोई चेतन सत्ता ही जड़ वस्तु को प्रभावित कर उसमें क्रिया उत्पन्न करती है और उसमें परिवर्त्तन लाती है। (१) वे वस्तुएँ जो परिवर्तन उत्पन्न करती है या जिनसे परिवर्तन उत्पन्न होता है, (२) वे वस्तुएँ जो परिवर्त्तित होकर नये रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। इनमें पूर्ववर्ती वस्तुओं को हम "कारण" कहते हैं और उत्तरवर्त्ती वस्तुओं को "कार्य" कहते हैं। जब हम इस कार्य-कारण प्रक्रिया पर चिन्तन करते हैं तो हमारे सामने कई समस्याएँ आती हैं। कारण और कार्य का स्वरूप क्या है? कारण और कार्य का सम्बन्ध किस प्रकार का है? कार्य एक बिल्कुल नई उत्पत्ति है या कारण का ही दूसरा रूप है आदि।

कारण का स्वरूप: कारण के स्वरूप को लेकर न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन में पर्याप्त विचार हुआ है। कारण की परिभाषा के सम्बन्ध में

शिवादित्य ने कहा है-कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण है।[११] यह परिभाषा अति सामान्य है। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उत्पन्न करने का तात्पर्य क्या है? कारण और कार्य के बीच सम्बन्ध को लेकर कई मतभेद है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस प्रश्न को लेकर दो दलों में बँटे हुए हैं। कुछ का कहना है कि कारण और कार्य में इसके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है कि कारण पहले होता है और कार्य बाद में होता है।

एक पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम ने तो यहाँ तक कह डाला कि कारण-कार्य सम्बन्ध केवल एक मानसिक आदत है। हम दो प्रकार की घटनाओं को नित्य पौर्वापर्य क्रम से घटते हुए देखते हैं और हमारे मन को इन घटनाओं को इसी क्रम से घटते हुए देखने की आदत पड़ जाती है। हम समझने लगते हैं कि पहली घटना ने दूसरी घटना को उत्पन्न किया है। वास्तव में यहाँ पौर्वापर्य क्रम के अतिरिक्त "उत्पन्न करना" जैसी कोई बात नहीं है।

भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन का मत डेविड ह्यूम के मत से मिलता-जुलता है ।चार्वाक ने अनुमान के अंगरूप में आने वाली व्याप्ति के प्रसंग में कार्य-कारण सम्बन्ध पर भी विचार किया है । चार्वाक के अनुसार यह कार्य-कारण सम्बन्ध भूयो-दर्शन' (अनेक बार एक ही क्रम से देखना) पर आधारित है। लेकिन हम तो कुछ सीमित घटनाएँ ही देखते हैं; अत: यह संभव हो सकता है कि जहाँ हम नित्य सम्बन्ध मानते हैं , वहाँ नित्य सम्बन्ध न हो; हजारों बार दो - दो घटनाओं को एक क्रम से देखने पर भी अपवाद की संभावना बनी रहती है।[१२] इस आधार पर चार्वाक कार्य-कारण सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में उनका मत "स्वभाववाद" या "यदृच्छावाद"कहा जाता है। "स्वभाववाद" के अनुसार घटनाओं को कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है, वस्तुओ का स्वभाव ही कार्यों को उत्पन्न करता है।[१३] यदृच्छावाद के अनुसार घटनाएँ कारण से नियन्त्रित नहीं है अपितु आकस्मिक हैं।

सामान्यत: भारतीय और पाश्चात्य सभी दार्शनिक यह मानते हैं कि कारण की सत्ता कार्य के पूर्व होती है। भारतीय दर्शन में कार्य-कारण सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले सभी दार्शनिक कारण की स्थिति कार्य के

Scanned with CamScanner

पूर्व 'नियत' रूप से हो, ऐसा मानते हैं। कोई वस्तु पूर्वकालिक होने मात्र से कारण नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ जुलाहा, करघा आदि पट के प्रति नियत रूप से पूर्वकालिक है, अतः पट के कारण हैं। किन्तु इतना मानने पर भी समस्या का हल होता हुआ दिखलाई नहीं पड़ता है। कुछ वस्तुएँ नियत रूप से पूर्वकालिक होते हुए भी कारण नहीं मानी जाती। रात्रि दिन के प्रति नियत रूप से पूर्वकालिक है किन्तु फिर भी उसे दिन का कारण नहीं माना जाता। अतः कारण को "नियतपूर्वभावी" मात्र कहना पर्याप्त नहीं है। न्याय दर्शन इसमें और संशोधन करते हुए कहता है कि कारण वह है जो नियतपूर्वभावी हो और जिसकी पूर्वभाविता अन्यथा-सिद्ध न हो[१६] अन्यथासिद्ध से तात्पर्य है जिसकी उपस्थिति अन्यथा अर्थात् किसी और उद्देश्य से हो, उस कार्य को उत्पन्न करने के लिए न हो। उदाहरणार्थ पट की उत्पत्ति के समय तन्तुरूप अन्यथासिद्ध है क्योंकि वह वहाँ पट को उत्पन्न करने के लिए नहीं है अपितु इस कारण है कि तन्तु बिना रूप के रह नहीं सकता, साथ ही उसकी शक्ति पटरूप को उत्पन्न करने में समाप्त हो जाती है। कारण के लिए आवश्यक है कि वह अन्यथासिद्ध न हो अर्थात् उसकी उपस्थिति वहाँ केवल उसी कार्य को उत्पन्न करने के लिए हो, किसी और कारण से न हो।

कार्य का स्वरूप : न्याय दर्शन में कारण की ही तरह कार्य की परिभाषा दी गई है। जो नियतरूप से कारण का पश्चाद्भावी है और जिसकी पश्चाद्भाविता अन्यथासिद्ध नहीं है वह कार्य है।[१७] यहाँ "अन्यथा सिद्ध" का अर्थ होगा विशिष्ट कारण से उत्पन्न न होकर किसी और कारण से उपस्थित या उत्पन्न होना। उदाहरणार्थ तन्तुरूप से पटरूप के निर्माण में पट नियतपश्चाद्भावी होते हुए भी तन्तुरूप का कार्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी सत्ता वहाँ तन्तुओं से उत्पन्न होने के कारण है, या हम यह भी कह सकते हैं कि वह वहाँ इसलिए है कि पट रूप पट के बिना हो ही नहीं सकता। कार्य का अन्यथा सिद्ध होना आवश्यक है।

वस्तुतः कार्य के स्वरूप का विश्लेषण करने में भी वही कठिनाई सामने आती है जो कारण के स्वरूप में थी। न्याय के अतिरिक्त किसी और दर्शन में हमें कार्य की परिभाषा प्राप्त नहीं होती। केवल इतनी सामान्य मान्यता है कि जो वस्तु कारण से उत्पन्न होती है वह कार्य है।

कार्य के पूर्व-अस्तित्व की समस्या: भारतीय दर्शन में कार्य - कारण सम्बन्ध को लेकर जिस समस्या पर सर्वाधिक चिन्तन किया गया है और जिसको लेकर सर्वाधिक मतभेद भी हैं, वह यह कि कार्य का उत्पन्न होने के पूर्व किसी प्रकार का कोई अस्तित्व होता है या नहीं। इस प्रश्न को लेकर सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय प्रायः दो दलों में बँटे हैं - सत्कार्यवादी और असत्यकार्यवादी। सत् कार्यवादी यह मानते हैं कि कार्य उत्पत्ति से पूर्व सत् होता है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य अनभिव्यक्त अवस्था में होता है और उत्पत्ति प्रक्रिया के द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। यह कोई नई उत्पत्ति नहीं होती। उदाहरणार्थ तिल से तेल उत्पन्न करने में तेल रूप कार्य पहले से ही तिल में अनभिव्यक्त अवस्था में स्थित रहता है, पेरने की क्रिया द्वारा अभिव्यक्त कर दिया जाता है। इस मत के समर्थक सांख्य और योग दर्शन हैं किन्तु वेदान्त के सभी सम्प्रदाय भी इससे सहमत हैं। असत्कार्यवादियों के अनुसार कार्य एक नितान्त नई उत्पत्ति है, वह किसी भी रूप में कारण में विद्यमान नहीं होती। उदाहरणार्थ जब हम तन्तुओं से पट का निर्माण करते हैं तो 'पट' एक ऐसा कार्य है जो किसी भी रूप में तन्तुओं में विद्यमान नहीं था। इस मत के मुख्य समर्थक न्याय-वैशेषिक है, किन्तु मीमांसकों तथा बौद्धों को भी इस मत का समर्थक माना जा सकता है।

सत्यकार्यवाद : सांख्यदर्शन में सत्कार्यवाद के समर्थन में पाँच युक्तियाँ दी गई है?[१]

(१) असद्करणात् : जो वस्तु 'असत्' है उसे कभी भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ - बालु में तेल नहीं है अतः बालु से किसी भी प्रकार तेल नहीं निकाला जा सकता। हम तेल ऐसी वस्तु से निकाल सकते हैं जिसमें वह पहले से विद्यमान रहता है।

(२) उपादानग्रहणात् : विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण को ह ग्रहण किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कारण के साथ कार्य क घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः मानना पड़ता है कि उत्पत्ति के पूर्व भी का सत् था।

(३) सर्वसम्भवाभावात् : यदि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्

Scanned with CamScanner

मानी जाती है तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। मिट्टी से पट और तन्तुओं से घट की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु ऐसा नहीं होता। अत: यह स्वीकार करना पड़ता है कि कारण से सम्बद्ध कार्य की ही उत्पत्ति होती है अर्थात् कार्य कारण में विद्यमान होता है।

(४) शक्तस्य शक्यकरणात् : किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। यदि ऐसा होता तो अव्यवस्था हो जाएगी। मिट्टी से पट और तन्तुओं से घट उत्पन्न होने लगेगा। अत: यह स्वीकार करना पड़ता है कि कारण में एक विशिष्ट कार्य को ही उत्पन्न करने की शक्ति होती है जिसके लिए वह शक्त होता है। तात्पर्य यह है कि शक्त (कारण) और शक्य (कार्य) में सम्बन्ध है और सम्बन्ध तभी हो सकता है जब शक्य (कार्य) सत् हो।

(५) कारण भावात् : कार्य क्योंकि कारणात्मक होता है अर्थात् कारण से अभिन्न होता है, और कारण सत् होता है अत: कार्य को भी सत् मानना पड़ता है।

कार्य की कारण से अभिन्नता सिद्ध करने के पक्ष में कई युक्तियाँ दी जाती हैं। पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि तन्तुओं का धर्म है। जो जिससे भिन्न होता है उसका धर्म नहीं होता। तन्तु और पट में उपादान-उपादेय भाव है। अर्थात् तन्तु उपादान कारण है और पट उनसे निर्मित कार्य, अत: दोनों अभिन्न हैं। वास्तव में न असत् वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है और न सद् वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है और न सद् वस्तु का नाश। गीता में भी कहा गया है –

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (२,१६)।

कार्य और कारण की भिन्नता के पक्ष में प्राय; यह तर्क दिया जाता है कि दोनों अलग प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। अत: भिन्न हैं। सांख्य दर्शन का इसमें कहना है कि यह उचित नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रयोजन सिद्ध करती है, जैसे एक ही अग्नि कभी दाहक होती है, कभी पाचक और कभी प्रकाशक । यदि यहाँ यह शंका उठाई जाती है कि कारण और कार्य में प्रयोजन सिद्धि की एक व्यवस्था है

जो प्रयोजन कारण सिद्ध कर सकता है। वह कार्य नहीं कर सकता और जो कार्य कर सकता है, वह कारण नहीं कर सकता। किन्तु एक वस्तु में इस प्रकार की व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती, तो सांख्य का यहाँ उत्तर है कि तन्तु (धागा) जब अलग-अलग होते हैं तो शरीर को नहीं ढँक पाते किन्तु मिलकर शरीर को ढँक देते हैं – इससे वे भिन्न नहीं हो जाते।

शंकराचार्य ने भी सत्कार्यवाद के समर्थन में अपना मत प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार यदि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व असत् माना जाये तो उसकी उत्पत्ति अकर्तृक होगी (अर्थात् उसका कोई कर्त्ता नहीं होगा) किन्तु उत्पत्ति एक क्रिया है और क्रिया का कर्त्ता अवश्य होता है। क्रिया का अकर्तृक होना विरोध है, यह संभव नहीं है। अत: जिस चीज की उत्पत्ति होगी उसका पहले से होना आवश्यक है यदि नैयायिक यह कहें कि यहाँ उत्पत्ति का अर्थ किसी आश्रय में क्रिया नहीं है अपितु कार्य का कारण से या अपनी सत्ता से सम्बन्ध होना है, तो शंकर का कथन है कि जिसकी सत्ता ही नहीं वह कारण के साथ कैसे सम्बद्ध होगा। दो सत् पदार्थों का ही सम्बन्ध हो सकता है। साथ ही 'पहले स्थित होना' या 'न होना' यह कार्य की मर्यादा है और मर्यादा सत् पदार्थों में ही होती है, असत् पदार्थों में नहीं। शंकराचार्य का यह कथन न्याय की दृष्टि से तर्कपूर्ण नहीं है। न्याय कार्य को केवल कारण-व्यापार के पूर्व असत् मानता है, कारण व्यापार के बाद तो वह सत् है । अत: कार्य की उत्पत्ति सकर्तृक ही होगी और कार्य की मर्यादा भी होगी।

सत्कार्यवाद के दो रूप : परिणामवाद और विवर्त्तवाद

सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद को 'परिणामवाद' या 'विकारवाद' भी कहा जाता है। इसके अनुसार कारण ही कार्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है और यह परिणति वास्तविक है। उदाहरण जब मिट्टी से घट बनाया जाता है तो मिट्टी ही घट के रूप में बदल जाती है, या जब दूध से दही जमाया जाता है तो दूध ही दही के रूप में बदल जाता है। सांख्य के इस परिणामवाद का समर्थन योग एवं विशिष्टाद्वैत आदि अन्य वैष्णव मत भी करते हैं।

शंकर आदि अद्वैतवादी यह मानते हैं कि जब कारण कार्य के रूप में

Scanned with CamScanner

बदलता है तो यह परिवर्तन वास्तविक नहीं होता, केवल एक प्रतीति है जो मिथ्या है। यह ऐसा ही परिवर्तन है जैसे रस्सी की सर्प रूप में प्रतीति होते समय रस्सी का सर्प के रूप में परिवर्तन। शंकर के मतानुसार कारण वास्तव में अपने रूप में ही अवस्थित रहता है। केवल कार्य के रूप में प्रतीति होने लगता है, ऐसा अज्ञान के कारण होता है और जब ज्ञान के द्वारा अज्ञान को नष्ट कर दिया जाता है तो पुनः कारण की अपने वास्तविक रूप में प्रतीति होने लगती है। शंकर का यह मत "विवर्त्तवाद" कहा जाता है। परिणमवाद या विकारवाद और विवर्त्तवाद के अन्तर को वेदान्तसार में इस प्रकार स्पष्ट किया है–

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः।।

(वास्तव में अन्य रूप में हो जाना 'विकार' कहा जाता है और वास्तव में दूसरे रूप में न होना, केवल प्रतीत होते लगना, 'विवर्त' कहलाता है)

शंकर के अनुसार कारण तथा कार्य में अभेद होता है, अन्तर केवल नामरूप का है। किन्तु नाम रूप से कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ता।[१७] देवदत्त अपने हाथ-पैर फैला दे अथवा समेट ले, इससे देवदत्त बदल नहीं जाता। शंकर के मत में एक बात स्पष्ट है कि शंकर पारमार्थिक दृष्टि से ही विवर्त्तवादी हैं, व्यावहारिक दृष्टि से वह सांख्य के समान परिणामवादी ही हैं।

सत्यकार्यवाद गीता के इस सिद्धान्त पर आश्रित है कि न असत् की उत्पत्ति हो सकती है, न सत् का नाश हो सकता है।[१८] आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि द्रव्य (Matter) अपना रूप बदल सकता है, उसका नाश कभी नहीं हो सकता। लेकिन परिणामवाद को मानने वाले सांख्य , रूप की नवीन उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करता। यहाँ पूर्वपक्षी आपत्ति करता है कि कारण व्यापार के पूर्व अभिव्यक्त थी या नहीं थी। यदि थी तो कारण व्यापार ने कुछ नहीं किया, यदि नहीं थी तो सांख्य को यह स्वीकार करना होगा कि कुछ नया ऐसा उत्पन्न हुआ है जो पहले नहीं था अर्थात् उसे असत्कार्यवाद को स्वीकार करना पड़ेगा।

असत्कार्यवाद : असत्कार्यवादी यह मानता है कि कार्य उत्पत्ति के

पूर्व पूर्णतः असत् था। उसकी किसी भी रूप में स्थिति नहीं थी। उदाहरणार्थ जब हम तन्तुओं से पट का निर्माण करते हैं तो पट एक नितान्त नई वस्तु है जो किसी भी रूप में अपने कारण में विद्यमान नहीं थी। असत्कार्यवाद के मुख्य समर्थक न्याय-वैशेषिक हैं किन्तु मीमांसा और बौद्ध दार्शनिक भी असत्कार्यवाद के समर्थक हैं।

असत्कार्यवाद की सिद्धि : असत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए न्याय-वैशेषिक अपना तर्क देते हुए कहते हैं, यदि कारण और कार्य अभिन्न वस्तुएँ है तो कार्य को उत्पन्न करने के लिए कारण व्यापार की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए, किन्तु कारण-व्यापार की आवश्यकता होती है। इससे सिद्ध होता है कि कारण और कार्य भिन्न वस्तुएँ हैं। इसके अलावा कार्य और कारण दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ जो काम घट से लिया जा सकता है, वह मिट्टी से नहीं लिया जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं।

ऊपर वर्णित दोनों तर्कों का उत्तर सत्कार्यवादी देते हुए कहते हैं कि कारण-व्यापार कारण में अव्यवक्तावस्था में स्थित कार्य की अभिव्यक्ति के लिए होता है, और दूसरी युक्ति के समर्थन में सत्कार्यवदी का कहना है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रयोजनो को सिद्ध करती देखी जाती है। उससे वह वस्तु भिन्न नहीं हो जाती।

असत्कार्यवाद के दो रूप : असत्यकार्यवादी न्याय-वैशेषिक के अनुसार कारण और कार्य दोनों नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं, न केवल रूप या आकार की दृष्टि से अपितु तत्त्व की दृष्टि से भी । न्याय - वैशेषिक के अनुसार जब हम तन्तुओं से पट का निर्माण करते हैं तो पट बिल्कुल नई वस्तु होती है, तत्त्व की दृष्टि से भी और रूप की दृष्टि से भी। कारण का तत्त्व कार्य में नही जाता। इसलिए न्याय-वैशेषिक के मत को 'उत्पत्तिवाद' भी कहा जाता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कार्य की उत्पत्ति के बाद कारण का क्या होता है? क्या कारण नष्ट हो जाता है या बना रहता है? न्याय-वैशेषिक के अनुसार कारण नष्ट नहीं होता, कार्य के साथ कारण भी बना रहता है। उदाहरणार्थ जब तन्तुओं से पट का निर्माण किया जाता है तो तन्तु भी बने रहते हैं और तन्तुओं में एक नया द्रव्य पट आ जाता है।

Scanned with CamScanner

बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। ये सभी वस्तुएँ अनेक सूक्ष्म कणों का समूह हैं। इनमें प्रत्येक क्षण केवल एक क्षण स्थिर रहकर नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर उसके जैसा ही एक दूसरा क्षण आ जाता है। इनमे प्रथम क्षण को द्वितीय क्षण का पर्वू-भावी होने के कारण "कारण" कहा जा सकता है। और द्वितीय क्षण को पश्चाद्भावी होने के कारण "कार्य"कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्व क्षण किसी भी प्रकार से द्वितीय क्षण को उत्पन्न नहीं करता। अत: द्वितीय क्षण के साथ उसका सम्बन्ध केवल इतना है कि वह उसका पूर्वभावी है। बौद्ध मत में कार्य-कारण सम्बन्ध को "प्रतीत्यसमुत्पाद" कहा जाता है, जिसका अर्थ है – "एक के होने पर दूसरे का होना"

जैन मत में सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद, दोनों मतों का समन्वय करने का प्रयास किया गया है। जैन मत में द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं गुण और पर्याय।[११] गुण उसके स्थायी धर्म होते हैं जब कि पर्याय बदलते रहते हैं। गुण वास्तव में वस्तु का स्वभाव है, जैसे-आत्मा का गुण चेतना और वह अपरिवर्तित रहता है। पर्याय वस्तु की अवस्थाएँ हैं जो बदलती रहती है। उदाहरणार्थ- जब हम सुवर्ण से अंगूठी बनाते हैं तो सुवर्ण के गुण-उसका रंग, चमक आदि अपरिवर्तित रहते हैं किन्तु उसकी अवस्था और आकार बदल जाता है। 'द्रव्य' के स्वरूप की इस मान्यता के अनुसार जैन दर्शन सत्कार्यवाद को भी स्वीकार करता है और असत्कार्यवाद को भी

भाग (ख)

ईश्वर

जब हम इस भौतिक संसार को देखते हैं, तो यह विविधताओं से भरा हुआ दिखाई पड़ता है। कहीं कल-कल करती नदियाँ, तो कहीं लहलहाते हरे-भरे खेत, कहीं ऊँची चोटियाँ तो कहीं विरान पड़ा मरूस्थल। इनको देखने के पश्चात् हमारे मन में अनायास ही एक प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्राकृतिक छटा का सृष्टि कर्त्ता कौन है? हमारे अथक प्रयासों के बावजूद, जब हमें अनुकूल सफलता नहीं मिलती तो हम ऐसे अदृश्य, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ से सहायता की अपेक्षा करने लगते हैं जो इस संपूर्ण विश्व का रचयिता, पालन कर्त्ता एवं संहारक है जिसे ईश्वर कहा जाता है।

वह ईश्वर ही सबको उनके कर्मों का फल देती है। यहाँ यह उल्लेख करना अपेक्षित है कि इस सामान्य विश्वास का कोई तर्कसम्मत आधार है भी या नहीं। क्या ईश्वर है? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है?

सामान्यत: हम देखते हैं कि प्रत्येक उत्पन्न होने वाली वस्तु (कार्य) के दो प्रकार के कारण होते हैं – एक वह जो स्वयं कार्य के रूप में परिणत हो जाता है और दूसरा वह जो इस परिणति की क्रिया का संपादन करता है या उसमें सहायक होता है। उदाहरणार्थ जब घट का निर्माण किया जाता है तो कारणों में एक तो मिट्टी है जो घट के रूप में बदल जाती है और दूसरी कारण कुम्हार, चाक, दण्ड आदि हैं, जो मिट्टी को घटके रूप में बदलते हैं या इस क्रिया में सहायक का कार्य करते हैं। हम प्रथम प्रकार के कारण को उपादान कारण एवं दूसरे प्रकार के कारण को निमित्त कारण कहते हैं। जब विश्व के रचयिता के रूप में ईश्वर की कल्पना की जाती है तो उपादान कारण के रूप में उसे माना जाय या न माना जाय, निमित्त कारण (कर्त्ता) के रूप में उसे अवश्य माना जाता है। संसार में कर्त्ता को हम हमेशा चेतन ही देखते हैं, अत: ईश्वर की कल्पना "चेतन कर्त्ता" के रूप में ही की जाती है। यद्यपि कुछ दार्शनिक उन्हें उपादान कारण भी मानते हैं।

जगत् की सृष्टि कर्त्ता या उत्पादक के विषय में चिन्तन हमें प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से ही प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में ही प्रकृति के विभिन्न अंगों-सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, मेघ आदि को दैवीय शक्ति के रूप में मानने की बात हमें पता चलता है। जिसे 'बहु देववाद' कहा जा सकता है। ये देवता मूलत: प्राकृतिक शक्तियों में मानवविध कल्पना से अद्भूत हैं किन्तु अलौकिक शक्ति सम्पन्न माने गये हैं। वैदिक ऋषि जब इन देवताओं में किसी एक देवता की स्तुति करता है तो प्राय: उसको सर्वोच्च देवता के रूप में स्थापित कर देता है। इस प्रवृत्ति को मैक्समूलर ने 'सर्वोच्च देववाद" (Henotheism) कहा है। संभवत: यह प्रवृत्ति "बहुदेवतावाद" से 'एकदेववाद' पर पहुँचने में सहायक रही है। विश्व की नियामक शक्ति की 'ऋत" के रूप में भी कल्पना की गई है। विश्व के सभी कार्य, सभी प्राकृतिक एवं सामाजिक नियम "ऋत" से नियन्त्रित है। 'ऋत' की संकल्पना भी एकेश्वरवाद की ओर बढ़ता हुआ एक कदम माना जा सकता है धीरे-धीरे वैदिक ऋषि

Scanned with CamScanner

की कल्पना विश्व के एक रचयिता की ओर बढ़ी है और "प्रजापति" 'परमपुरुष' के रूप में विश्व के एक रचयिता को स्वीकार किया गया है। प्रजापति को 'हिरण्य गर्भ या 'क' भी कहा गया है ये सबसे पहले उत्पन्न हुए, सभी प्राणियों के अकेले अधिपति हुए और इन्होंने आकाश तथा पृथ्वी को धारण किया।[१०९] विश्वकर्मा को भी सम्पूर्ण विश्व का रचयिता माना गया है। वही पृथ्वी तथा आकाश की रचना करता है, सब का निरीक्षण करता है। उसकी दृष्टि सब जगह है, मुख सब जगह है, हाथ-पैर सर्वत्र हैं। वह अद्वितीय देव है।[११०] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०,९०) में सृष्टि के मूल कारण "पुरुष" का सुन्दर चित्रण मिलता है – वह हजार शिर, हजार, आँखों तथा हजार पैर वाला पुरुष चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर दस अंगुल अधिक है। जो कुछ इस समय वर्त्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है सब पुरुष ही है –

पुरुष एवेदं सर्वं यद् यच्च भव्यम्।

श्री मद्भगवद् गीता के अनुसार ईश्वर इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी, इसके उद्भव विकास एवं संहार का एकमात्र कारण है। वह इस जगत का पिता, माता, धाता, पितामह, गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी , निवास, शरण तथा सुहृत है। वही इसका उत्पत्ति स्थान, प्रलय स्थान, निधान तथा अविनाशी बीज है।[१११] गीता का ईश्वर निमित्त तथा उपादान कारण दोनों है। यहाँ प्रकृति ईश्वर की माया या शक्ति है। प्रकृति के भी दो रूप हैं – परा तथा अपरा। परा प्रकृति में चेतन जीवात्माएँ आती हैं जो नित्य भी है। अपरा प्रकृति जड़ प्रकृति है जिसके अंतर्गत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मनस् एवं बुद्धि आते है। यह अपरा प्रकृति ही सृष्टि का उपादान कारण है।

ईश्वर की सत्ता में विश्वास की बात जब हम भारतीय दर्शन में करते है तो इसकी दो संप्रदाय हमें प्राप्त होते हैं नास्तिक तथा आस्तिक। नास्तिक सम्प्रदायों में चार्वाक, बौद्ध तथा जैन आते हैं। ये सभी सम्प्रदाय, ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। आस्तिक सम्प्रदायों में मीमांसा , वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक आते हैं इनमें मीमांसा तथा सांख्य मूलतः ईश्वर विरोधी है, यद्यपि बाद में इनका सेश्वर रूप भी प्राप्त होता है। वेदान्त योग, न्याय तथा वैशेषिक ईश्वर में विश्वास करते हैं।

इन सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में ईश्वर के स्वरूप तथ युक्तियों द्वारा उसकी स्थापना की समस्याओं का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन में ईश्वर के स्वरूप को लेकर विस्तार से वर्णन किया गया है। वेदान्त दर्शन का मुख्य आधार उपनिषद् है। उपनिषद् दर्शन को सार रूप में बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रों में निबद्ध किया गया है। ब्रह्मसूत्रों पर हमें विविध भाष्य प्राप्त होते हैं जिसमें सूत्रों की अपने-अपने ढंग से विविध रूपों में व्याख्या की गई है। जिससे इनके अलग-अलग सम्प्रदाय भी हैं। इनमें शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद आदि प्रमुख हैं।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप हमें 'ब्रह्मसूत्र' (१.१.२) जन्माद्यस्यतः की व्याख्या में प्राप्त होता है। इस सूत्र में 'ब्रह्म' का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्म वह है जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है। स्पष्टतः यह सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है। शंकराचार्य उपनिषदों का अनुसरण करते हुए पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्म को स्वीकार करते हैं पर ब्रह्म निर्गुण तथा कूटस्थ नित्य होने के कारण सृष्टि का कारण नहीं हो सकता । वह माया से आच्छन्न होकर अपर या सगुण ब्रह्म होता है। यही सृष्टि का कारण है।

अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण भी है तथा उपादान कारण भी है। जिस प्रकार मकड़ी तन्तु रूपी कार्य के प्रति अपने शरीर की दृष्टि से उपादान कारण होती है तथा स्वयं (चेतना) की दृष्टि से निमित्त कारण होती है, उसी प्रकार ईश्वर माया की दृष्टि से उपादान कारण और स्वयं अपनी (चैतन्य की) दृष्टि से निमित्त कारण है।

माया (जिसे अविद्या तथा अज्ञान भी कहा जाता है) ब्रह्म की शक्ति है। किन्तु अद्वैत वेदान्त में माया की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। उसे न 'सत्' कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान होने पर उसका बाध हो जाता है, न 'असत्' कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। माया अनिर्वचनीय है। क्योंकि ईश्वर माया से उपहित ब्रह्म है और माया पारमार्थिक सत्ता नहीं है अतः अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को भी पारमार्थिक सत्ता नहीं कहा जा सकता। वह भी सम्पूर्ण सृष्टि की तरह प्रतीति मात्र ही सिद्ध होता है। पारमार्थिक सत्ता केवल एक परब्रह्म है जो अपने आप सृष्टि रचना में समर्थ नहीं है।

Scanned with CamScanner

रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ईश्वर, चित्त तथा अचित्त तीन मूल तत्व स्वीकार किए गए हैं। चित तत्त्व है। अचित्त जड़ तत्त्व है और ईश्वर इन दोनों का अन्तर्यामी है। जिस प्रकार किसी मनुष्य में दो भाग होते हैं – शरीर और आत्मा, उसी प्रकार रामानुज के ब्रह्म में भी ईश्वर आत्मा - स्थानीय है तथा चित्त एवं अचित्त शरीर स्थानीय हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों में ईश्वर का स्वरूप लगभग एक समान है। वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का वर्णन नहीं है और विद्वानों का मत है कि वैशेषिक दर्शन आरम्भ में ईश्वर में विश्वास नहीं करता था किन्तु प्रशस्तपादभाष्य तथा न्यायकन्दली आदि में ईश्वर का वर्णन मिलता है

वैशेषिक दर्शन के अनुसार ईश्वर एक विशेष आत्मा है। वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है । उसका ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है किन्तु इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से उत्पन्न नहीं है।

न्याय ग्रन्थों में ईश्वर सम्बन्धी विवेचन विस्तार से प्राप्त होता है। न्यायसूत्रों मे ईश्वर को कर्मफल प्रदाता के रूप में माना गया है।[१०३] उद्योतकर के अनुसार ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है जबकि परमाणु समवायिकारण है। दोनों का संयोग असमवायिकारण है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ईश्वर पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणुओं से जीवों के अदृष्ट के अनुसार उनके सुख-दुःख रूप भोग के लिए जगत् के पदार्थों को उत्पन्न करता है।[१०४]

योग ग्रन्थों में ईश्वर का समुचित विवेचन किया गया है। योग सूत्र में ईश्वर को समाधि के अंग के रूप में ध्यान केन्द्रित करने के लिए स्वीकार किया गया है। "ईश्वर प्रणिधान" प्रथम अध्याय में ईश्वर के प्रति भक्ति के अर्थ में और दूसरे अध्याय में सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित करने या कर्म फल का त्याग करने के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त है। अतः योग सूत्र में ईश्वर केवल साधन है, साध्य नहीं है। योगसूत्र में "ईश्वर एक पुरुष (आत्मा) है जो क्लेश, कर्म-विपाक (कर्म संस्कारों का फलीभूत होना) तथा आशय (कर्म संस्कार) से अस्पृष्ट है।[१०५] यहाँ उल्लेखनीय है। कि ईश्वर सृष्टि रचयिता आदि के रूप में यहाँ वर्णित नहीं है।

योग के ईश्वर का न्याय-वैशेषिक के ईश्वर के स्वरूप से विशेष भिन्न नहीं है। योग दर्शन भी ईश्वर की जिन विशेषताओं को कल्पना की है उन सभी को न्याय दर्शन भी मानता है। न्याय के समान योग भी ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्त कारण मानता है, उपादान कारण नहीं। न्याय में उपादान कारण के रूप में परमाणु है और योग में प्रकृति।

यदि हम ईश्वर को मानने वाले सभी दर्शनों वेदान्त, न्याय-वैशेषिक और योग पर तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हम पाएँगे कि उपर्युक्त सभी दर्शन ईश्वर की निम्नलिखित विशेषताओं से सहमत हैं—

(१) ईश्वर सृष्टि का रचयिता (२) कर्मफल दाता (३) सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, सर्व व्यापक (४) वेदों के रचयिता आदि।

भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक और योग दर्शन ईश्वर की सिद्धि में कई युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, उनमें प्रमुख युक्तियों का यहाँ वर्णन करते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में यद्यपि गौतम, प्रशस्तपाद उदयन, उद्योतकर आदि ने ईश्वर की सिद्धि में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं लेकिन उद्योतकर ईश्वर की सिद्धि में निम्नलिखित चार युक्तियाँ देते हैं—

(१) उद्योतकर की प्रथम युक्ति उनके विरुद्ध है जो केवल प्रकृति, परमाणु या कर्म को सृष्टि का निमित्त कारण मानतें हैं। उद्योतकर का कथन है कि ये सभी वस्तु अचेतन हैं, अतः किसी बुद्धिमान् कारण से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत हो सकती हैं। ईश्वर ही बुद्धिमान् कारण है जो परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करता है।

(२) प्रत्यक्ष रूप से ग्राह्य भूत भी अचेतन होने के कारण स्वयं प्राणियों के सुख-दुःख उत्पन्न नहीं कर सकते; बुद्धिमान् ईश्वर के ही निर्देशन में वे प्राणियों के सुख दुःख उत्पन्न करते है।

(३) धर्म और अधर्म (अदृष्ट) वास्य (कुल्हाड़ी) के समान सुख दुःख के कारण हैं। अतः ये बुद्धिमान् कारण के निर्देश में ही सुख दुःख उत्पन्न कर सकते हैं। जीवात्मा इनका निर्देशन नहीं कर सकती क्योंकि उसे इनका ज्ञान नहीं होता। फिर वे स्वयं अपने भाग्य के निर्णायक नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त जीवात्माओं

Scanned with CamScanner

को शरीर प्राप्ति के बाद ही ज्ञान की उपलब्धि होती है। अतः शरीर की प्राप्ति के पूर्व ही वे धर्म-अधर्म का निर्देशन नहीं कर सकती। अतः ईश्वर ही, जिसे जीवात्माओं के धर्म-अधर्म का ज्ञान होता है, उन्हें धर्म-अधर्म के अनुसार सुख-दुःख से युक्त करता है।

(४) महाभुत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) अपनी-अपनी धारण आदि क्रियाओं में किसी बुद्धिमान् कारण से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत हो सकते हैं क्योंकि वे अचेतन हैं, जैसे कुल्हाड़ी। यह बुद्धिमान कारण ईश्वर है।

योग दर्शन के ग्रन्थों में भी ईश्वर की सिद्धि के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी गई हैं—

(१) श्रुति एवं शास्त्र एक स्वर से ईश्वर की सत्ता मानते हैं।

(२) न्यूनाधिक मात्रा वाली वस्तुओं की अल्पतम कोटि के समान एक उच्चतम कोटि भी होती है। ज्ञान की भी अधिकतम मात्रा होनी चाहिए। वह जहाँ रहती है वह ईश्वर है।

(३) प्रकृति जड़ है। सृष्टिकाल में पुरुष के साथ उसका संयोग तथा प्रलयकाल में वियोग स्वतः नहीं हो सकता । वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, ईश्वर ही है जो प्रत्येक पुरुष के कर्मों को जानता है और उनके अनुसार प्रकृति-पुरुष का संयोग कराता है। और प्रलय काल में वियोग कराता है।

ईश्वर के विरोध में तर्क : सभी नास्तिक दर्शन (जैन, बौद्ध और चार्वाक) के अलावा मीमांसा एवं सांख्य जैसे आस्तिक दर्शन भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास का एक आधार श्रुति प्रमाण भी है। जिसे नास्तिक दर्शन स्वीकार नहीं करता। उन्होंने अनुमान-प्रमाण के आधार पर दी गई युक्तियों का भी खंडन किया है।

ईश्वर के विरोध में जैन दर्शन का यह मानना है कि – जैसा कि नैयायिकों का कहना कि जगत् एक कार्य है, अतः उसका एक कर्ता होना चाहिए। यह कर्ता ही ईश्वर है। इस पर जैन दर्शन प्रश्न करते हैं– जब जगत् को कार्य बताया जाता है तो कार्य का क्या अर्थ है? 'कार्य' के चार संभव

अर्थ हो सकते हैं (१) जो सावयव हो (२) जो ऐसे कारणों का समवाय हो जो पूर्वतः असत् हों (३) जो उत्पन्न होता हो (४) जो परिवर्त्तित होता हो। इनमें प्रथम अर्थात् सावयवत्व का क्या अर्थ है? यदि इसका अर्थ है "अवयवों में रहना,' तब तो अवयवों में रहने वाले "सामान्य" को भी कार्य मानकर अनित्य मानना पड़ेगा। किन्तु नैयायिक सामान्य को निरवयव एवं नित्य मानते हैं। यदि उसका अर्थ अवयवों से युक्त होना तब तो 'आकार' को भी कार्य मानना चाहिए जबकि नैयायिक आकाश को नित्य मानते हैं। यदि कार्य का अर्थ अनित्य कारणों का समवाय माना जाये तो जगत् कार्य नहीं हो सकता क्योंकि इसके कारण परमाणु अनित्य नहीं है। यदि कार्य का अर्थ लिया जाये जो उत्पन्न होता हो, तब तो 'दिक्' को भी कार्य मानना चाहिए क्योंकि जब मनुष्य गड्ढा खोदता है तो वह समझता है कि उसने गड्ढे में नयी दिक् का निर्माण किया है। यदि कार्य का अर्थ लिया जाये जो परिवर्त्तित होता है, तब तो ईश्वर को भी कार्य मानना पड़ेगा क्योंकि उत्पन्न करने की क्रिया में वह स्वयं परिवर्त्तित हुए बिना नहीं रह सकता।

जैनियों का यह भी कहना है कि यदि जगत् को कार्य मान भी लिया जाये तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसका कर्त्ता कोई बुद्धिमान् पुरुष है। यदि यह कहा जाता है कि मनुष्य के कर्तृत्व के साम्य पर जगत् का कर्त्ता बुद्धिमान् माना जाता है, तब तो मनुष्य के कर्तृत्व के साम्य पर उसे मनुष्य के समान अपूर्ण भी मानना चाहिए। ईश्वर के बारे में यह तर्क देना कि यह बिना किसी सहकारी कारण के सृष्टि की रचना करता है अनुचित है और अनुभव विरुद्ध है। यदि यह भी कहा जाये कि ईश्वर को माने बिना जगत् की विविधता की व्याख्या नहीं हो सकती तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि जगत् की विविधता की व्याख्या केवल नैतिक नियम या कर्म नियम को मानकर हो सकती है।

न्याय के ईश्वर सम्बन्धी विचार पर आपत्ति करते हुए मीमांसकों का कहना है कि न्याय जगत् को सावयव होने के कारण कार्य मानता है। यह सच है कि जगत् सावयव है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जगत् का कभी आरम्भ हुआ था या किसी ईश्वर ने इसकी रचना की। प्रतिदिन मनुष्य

Scanned with CamScanner

और पशु अपने माता-पिता से बिना किसी ईश्वर की क्रिया के उत्पन्न होते हैं। न्याय यह मानता है कि धर्म और अधर्म का कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए। किन्तु यह मान्यता उचित नहीं है धर्म और अधर्म कर्त्ता में स्थित होते हैं और किसी अन्य को उनका ज्ञान नहीं हो सकता। ईश्वर का धर्म और अधर्म के साथ किसी प्रकार का संयोग या समवाय रूप सम्बन्ध संभव नहीं है। यदि सृष्टि को कार्य मानकर उसका कर्त्ता ईश्वर माना जाता है तो ईश्वर को भी कार्य मानकर उसका कोई और कर्त्ता मानना पड़ेगा।

ईश्वर की सत्ता में विश्वास के विरोध में सांख्य दर्शन का मानना है कि कोई भी समझदार व्यक्ति या तो स्वार्थवश कार्य करता है या करुणावश। ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि में इनमें कोई भी प्रयोजन नहीं हो सकता। कोई स्वार्थ इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर "आप्तकाम" (जिसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो) है। ईश्वर का करुणाभाव भी प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि पूर्व जीवों के इन्द्रिय, शरीर तथा विषयों की उत्पत्ति न होने से उनको दुःख था ही नहीं, तब ईश्वर को क्या दूर करने की इच्छा होगी? फिर करुणा का अर्थ है परदुःख निवारण। यदि यह माना जाये कि सृष्टि के बाद दुःखियों को देख कर करुणा होती है तो "करुणाभाव" से सृष्टि होती है और सृष्टि से करुणा भाव होता है। इस प्रकार का अन्योन्याश्रय दोष होगा।[१०६]

इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि ईश्वर की सिद्धि तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता। कुछ तर्क ईश्वर सिद्धि में सहायक हैं किन्तु कुछ युक्तियाँ ईश्वर विरोधी उतनी ही बलशाली हैं। ईश्वर विश्वास का विषय है, तर्क का नहीं।

आत्मा (Soul) की अवधारणा : भारतीय दर्शन में आत्मा या चेतन तत्त्व को लेकर गम्भीर चिन्तन किया गया है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है। चेतन तत्त्व के लिए सामान्यतः "आत्मा" या "जीव" शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु इन शब्दों का प्रयोग तभी हुआ है जब इनको एक नित्य तत्त्व नहीं माना गया है। वह इनके लिए 'आत्मा' या 'पुरुष' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, जैसे-चार्वाक और बौद्ध मत में आत्मा में विश्वास करने के फलस्वरूप

भारतीय दर्शन अध्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ के प्रायः दर्शनिकों ने आत्मा को अमर माना है। उपनिषद् से लेकर वेदान्त दर्शन तक आत्मा की खोज पर जोर दिया गया है। यहाँ के ऋषियों का मूलमंत्र है **"आत्मानं विद्धि"** (Know thyself) आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न मत भारतीय दार्शनिकों ने प्रस्तुत किए हैं।

चार्वाक दर्शन, चैतन्य का आधार भौतिक शरीर को मानता है। चार्वाक ने आत्मा और शरीर को एक दूसरे का पर्याय माना है। उसने कहा है – **चैतन्य विशिष्ट देह एवात्मा।**[१०७] आत्मा शरीर से पृथक् नहीं है। शरीर की तरह आत्मा भी विनाशी है क्योंकि आत्मा वस्तुतः शरीर ही है। चार्वाक के इस मत को 'देहात्मवाद' कहा जाता है। उनके अनुसार यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन चार भूतों से निर्मित है। इन चार भूतों के विशेष संयोजन से चैतन्य एक गुण के रूप में उत्पन्न हो गया है। यह ऐसा ही है जैसे पान, सुपारी कत्था और चूने में अलग-अलग लाल रंग दिखाई नहीं पड़ता लेकिन इनको खाने पर इसके मिश्रण से मुख में लालिमा उत्पन्न हो जाती है।[१०८]

अथवा जैसे मदिरा के उपादान तत्त्वों में मादकता नहीं होती किन्तु मदिरा में मादकता उत्पन्न हो जाती है। सदानन्द ने 'वेदान्तसार' में चार्वाक द्वारा प्रमाणित आत्मा के सम्बन्ध में चार विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। कुछ चार्वाकों ने आत्मा को शरीर कहा है। कुछ ने आत्मा को ज्ञानेन्द्रिय के रूप में माना है। कुछ चार्वाकों ने कर्मेन्द्रिय को आत्मा कहा है और कुछ ने मनस् को आत्मा माना है। चार्वाकों ने आत्मा के अमरत्व का निषेध कर भारतीय विचारधारा में निरूपित आत्मा के विचार का खंडन किया है। चार्वाक के मत को भौतिकवादी मत भी कहा जाता है।

बौद्ध दर्शन किसी नित्य आत्मा में विश्वास नहीं करते। उन्होंने क्षणिक आत्मा की सत्ता को स्वीकार की है। उनके अनुसार आत्मा पंच स्कन्धों का संघात मात्र है। इन पंच स्कन्धों को दो भागों में बाँटा जा सकता है – नाम तथा रूप। जो वस्तु स्थान घेरती है, जिसमें भारीपन होता हैं, "रूप" कहलाती है। अतः रूप से तात्पर्य पृथ्वी, जल तेज और वायु इन चारों भूतों से और इनसे निर्मित शरीर से है। जो न स्थान घेरता हो और न जिसमें

Scanned with CamScanner

भारीपन हो वह 'नाम' कहलाता है। नाम के अंतर्गत मन तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ आती है। आत्मा नाम-रूप का अर्थात् शरीर, मन तथा मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चय मात्र है । नाम चार प्रकार का है – वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। किसी वस्तु के साक्षात्कार से उत्पन्न ज्ञान 'संज्ञा" है तज्जन्य सुख-दुःख तथा उदासीनता का भाव 'वेदना' है, अतीत अनुभव से उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक संस्कार "संस्कार" है। और चैतन्य 'विज्ञान' है। इस प्रकार इन पाँच-स्कन्धों - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान के संघात का नाम आत्मा है।

जैन धर्म में आत्मा या चेतन तत्त्व के लिए "जीव" शब्द का प्रयोग किया गया है। जैन लोग चैतन्य को जीव का लक्षण मानते हैं।[१०९] यह जीव उनकी दृष्टि से एक प्रकार का द्रव्य है जो शरीर से नितान्त भिन्न है। यह नित्य है। चेतना आत्मा में निरन्तर विद्यमान रहती है। आत्मा में चैतन्य और विस्तार दोनों समाविष्ट है। आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा की शक्ति अनन्त है। उसमें चार प्रकार की पूर्णता-जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, और अनन्त आनन्द विद्यमान है।

आत्मा के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक ने जो मत दिया है उसे यथार्थवादी मत कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक में चेतन तत्त्व के लिए "आत्मा" शब्द का प्रयोग किया गया है। इस दर्शन में आत्मा को स्वभावतः अचेतन माना गया है। आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है जब आत्मा का सम्पर्क मन, शरीर तथा इन्द्रियों से होता है। इस प्रकार चेतना को इन दर्शनों में आत्मा का आगन्तुक गुण (Accidental Property) कहा गया है। न्याय-वैशेषिक ज्ञान को ही चैतन्य मानता है। मोक्षावस्था में आत्मा चैतन्य गुण से रहित होता है। इस दर्शन में आत्मा को ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता माना गया है।

मीमांसा दर्शन भी न्याय-वैशेषिक की तरह चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म मानती है। मीमांसा दर्शन में आत्मा को नित्य एवं विभु माना गया है। मीमांसा मत में दो सम्प्रदाय हैं– कुमारिल तथा प्रभाकर। दोनों ही मतों में चैतन्य तत्त्व को आत्मा कहा गया है। दोनों मानते हैं कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय एवं बुद्धि से पृथक् है। यह विभु, नित्य, निराकार, अभौतिक

तथा संसरण करने वाली है। यह ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्त्ता तीनों है। सांख्य-योग दर्शन ने आत्मा को चैतन्य स्वरूप माना है। इसके लिए "पुरुष" शब्द का प्रयोग किया गया है। सांख्य दर्शन सम्पूर्ण सृष्टि को दो भागों में बाँटा है – चेतन और अचेतन। सभी अचेतन पदार्थों का मूल कारण "प्रकृति" है और चेतन प्रतीत होने वाले पदार्थों की पृष्ठभूमि में पुरुष है। सांख्य की दृष्टि से चेतन प्रतीत होने वाले सभी पदार्थ मूलतः प्रकृति के विकार होने के कारण अचेतन ही है। किन्तु उनमें पुरुष का प्रतिबिम्ब है, जिस कारण चेतन प्रतीत होते हैं। सांख्य दर्शन ने चेतना को आत्मा का मूल लक्षण माना है। चैतन्य के अभाव में आत्मा की कल्पना भी असम्भव है। आत्मा निरन्तर ज्ञाता रहता है। वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। सांख्य ने आत्मा को अकर्ता कहा है। आत्मा आनन्द विहीन है क्योंकि आनन्द गुण का फल और आत्मा त्रिगुणातीत है।

अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य शुद्ध चेतन सत्ता को ही इस सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण मानता है। यह चेतन सत्ता अर्थात् ब्रह्म अपने आप में सत-चित्त और आनन्द स्वरूप है, अखण्ड है, कूटस्थ, नित्य है और देश काल से परे है। शंकर ने भी चेतना को आत्मा का मूल स्वरूप लक्षण माना है। आत्मा न ज्ञाता है और न ज्ञान का विषय है। आत्मा का बन्धन भी वास्तव में एक मिथ्या प्रतीति मात्र है, क्योंकि आत्मा तो नित्य-मुक्त है। जहाँ तक आत्मा की संख्या का सम्बन्ध है, शंकर को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने आत्मा को अनेक माना है। शंकर एक ही आत्मा को सत्य मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में रामानुज ने चेतन तत्त्व को "चित् " और अचेतन तत्त्व को "अचित् "कहा है। "चित्" व्यक्तिगत आत्माएँ हैं। और अचित् जड़-प्रकृति। रामानुज के अनुसार चित् और अचित् दोनों ही तत्त्व ईश्वर के शरीर रूप में हैं – ईश्वर के विशेषण हैं। और ईश्वर विशेष्य है। रामानुज के अनुसार आत्मा वास्तव में ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। रामानुज के अनुसार आत्मा ईश्वर का शरीर होने के कारण ईश्वर पर निर्भर है।

इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के दोनों सम्प्रदाय नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन में आत्मा (चेतन तत्त्व) की सत्ता में विश्वास

Scanned with CamScanner

को लेकर विस्तार से वर्णन किया गया है। जहाँ चार्वाक जैसे दार्शनिक इसे भौतिक गुण मानते हैं तो सांख्य-योग, न्याय वैशेषिक, मीमांसा वेदान्त और जैन इसे अभौतिक द्रव्य मानते हैं। चार्वाक जहाँ इसे अनित्य मानता है वहीं अन्य आस्तिक सम्प्रदाय इसे नित्य मानता है।

दुःख (बन्धन) और मोक्ष की अवधारणा : (Concept of Suffering and Salvation) - भारतीय दर्शन में इस भौतिक संसार को दुःखमय माना गया है। दर्शन का विकास ही भारत में आध्यात्मिक असन्तोष के कारण हुआ है। रोग, मृत्यु, बुढ़ापा ऋण आदि दुःखों के फलस्वरूप मानव मन में सर्वदा अशान्ति का निवास रहता है। जब तक हम संसार में रहते हैं किसी न किसी प्रकार का दुःख भोगते ही रहते हैं। यह दुःख हमें क्यों होता है? इसके निवारण के क्या उपाय हैं? इन प्रश्नों पर भारतीय दर्शन में चिन्तन किया गया है तथा उसके समाधान का मार्ग भी बताया गया है। आत्मा का सांसारिक दुःखों से ग्रस्त होना उसका 'बन्धन' है। इन दुःखों से मुक्त हो जाना उसका 'मोक्ष' है। ऐसा भारतीय दर्शन मानता है। बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य विश्व को दुःखात्मक मानता है। विभिन्न भारतीय दर्शनों में दुःख एवं मोक्ष के स्वरूप के बारे में क्या कहे गए हैं, उनका वर्णन अब यहाँ निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर की जाएगी।

चार्वाक मत के अनुसार यह शरीर ही आत्मा है। सभी दुःखों का आश्रय यह शरीर ही है। जब तक शरीर है तब तक मनुष्य दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता। शरीर के नाश के साथ ही दुःख समाप्त हो जाता है। चार्वाक के अनुसार शरीर के नाश के पश्चात् कोई ऐसा तत्त्व नहीं रहता है जो सुख दुःख का अनुभव करें। शरीर के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। चार्वाक आत्मा में विश्वास नहीं करता, इसलिए पुनर्जन्म को भी नहीं मानता। इस जन्म के समाप्त होते ही सम्पूर्ण दुःख स्वतः समाप्त हो जाते हैं और मोक्ष नाम की सत्ता में भी वह विश्वास नहीं करता।

जैन दर्शन में भी उमास्वाति ने कहा है – "जीव द्वारा कषाययुक्त होने के कारण कर्म-योग्य पुद्गल को ग्रहण किया जाना उसका बन्ध है।"[११०] जैन दर्शन में कर्म को "पौद्गलिक" बतलाया गया है। 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग

द्रव्य के लिए किया जाता है। अतः जैन दर्शन में कर्म भी द्रव्यात्म है। जब कर्म पुद्गल जीव में चिपककर, उसमें प्रविष्ट होकर उसके शुद्ध स्वरूप को ढँक लेते हैं तो यही जीव का बन्धन होता है। यही दुःख है। जीव का बन्धन दो प्रकार का बताया गया है। १. भाव बन्ध और २. द्रव्य बन्ध। । भाव बन्ध से तात्पर्य है। जीव का कषाय युक्त होना। जीव जो अपने आप में निर्विकारी होता है, कषाय के कारण विकारी हो जाता है और फिर, उसके विकारी होने के कारण पुद्गल उसमें चिपक जाते हैं। यही द्रव्य बन्ध है। कर्म पुद्गल से जीव का मुक्त होना उसका मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है – सम्यग, दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी मिथ्या ज्ञान को दुःख का कारण माना गया है। मिथ्या ज्ञान अविद्या ही है। आत्मा से लेकर मोक्षपर्यन्त प्रमेयों के विषय में ठीक ज्ञान न होना मिथ्याज्ञान है। मिथ्या ज्ञान से ईष्ट वस्तुओं के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष पैदा होते हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्या ज्ञान आदि के कारण संसार में जन्म लेना बन्धन है। जिसके कारण आत्मा को दुःख भोगना पड़ता है। मोक्ष अर्थात् सांसारिक बन्धन से मुक्त होने के उपाय न्याय के अनुसार सोलह पदार्थों का सम्यक् ज्ञान है।[१११] और वैशेषिक के अनुसार छः पदार्थों का तत्त्व ज्ञान है।[११२] न्याय सूत्र में मोक्ष के बारे में कहा गया है- दुःख से पूर्ण मुक्ति मोक्ष है।[११३]

मीमांसा दर्शन में शालिकानाथ मिश्र के अनुसार जीव धर्म-अधर्म के वशीभूत होकर विभिन्न योनियों में संसरण करता है। धर्म-अधर्म के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर जीव के शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बन्ध समाप्त हो जाने पर और सम्पूर्ण सांसारिक दुःख रूपी बन्धन के समाप्त हो जाने पर जीव मुक्त कहलाता है।[११४] मोक्ष की प्राप्ति, धर्म और अधर्म के पूर्ण नाश द्वारा हो सकती है।

सांख्य दर्शन के अनुसार विश्व दुःख का सागर है। विश्व में तीन प्रकार के दुःख हैं - आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक । आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक दुःखों का दूसरा नाम है। आधिभौतिक दुःख बाह्य जगत के प्राणियों से, जैसे पशु और मनुष्य से प्राप्त होते हैं इस प्रकार के दुःख के उदाहरण चोरी, उकैती हत्या आदि कुकर्म है। आधि दैविक दुःख वे दुःख हैं जो अप्राकृतिक शक्तियों से प्राप्त होते हैं। भूत, प्रेत, बाढ़

Scanned with CamScanner

अकाल आदि से प्राप्त दु:ख उसके उदाहरण है। सांख्य योगमत में पुरुष (आत्मा) शुद्ध चैतन्य तथा कूटस्थ नित्य है। सांख्य का पुरुष कभी बन्धन में नहीं पड़ता, उसका बंधन केवल उसका भ्रम है। क्योंकि वह कभी बंधन में नहीं पड़ता, उसका कभी मोक्ष भी नहीं होता। मोक्ष उसी का होता है जो बंधन में हो पुरुष तो नित्य मुक्त है। सांख्यकारिका के अनुसार पुरुष न बन्धन में पड़ता है न मुक्त होता है और न संसरण करता है। वास्तव में प्रकृति ही बन्धन में पड़ती है मुक्त होती है और संसरण करती है। सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष विवेक ज्ञान के द्वारा होता है। अज्ञान के कारण पुरुष जो अपने को बुद्धि आदि से अभिन्न समझने लगता है ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर वह अपने प्रकृति से भिन्न स्वरूप को जान लेता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म और जीव अभिन्न है। ब्रह्म सच्चिदानन्द, अखण्ड नित्य शुद्ध मुक्त स्वरूप वाला है। अत: जीव भी परमार्थत: इसी स्वभाव वाला है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जीव के ब्रह्म से अभिन्न होने पर उसे ये सांसारिक दु:ख क्यों होता है? इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का उत्तर है जीव अज्ञान के कारण अपने को मन, शरीर, इन्द्रिय आदि से अभिन्न मानने लगता है और अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है। यही अज्ञान उसके बन्धन और दु:ख का कारण है। शंकराचार्य के अनुसार केवल ब्रह्म से जीव का अभेद ज्ञान ही मोक्ष है। शंकर के अनुसार ज्ञान, मोक्ष और ब्रह्म सभी एक ही परम तत्त्व को द्योतित करते हैं।

विशिष्टाद्वैत के संस्थापक रामानुज मोक्ष के साधन के रूप में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों के महत्व को स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त वे "प्रपत्ति" अर्थात् ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण को भी मोक्ष के साधन के लिए सरल एवं प्रभावशाली उपाय मानते हैं।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष के लिए 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। भगवान बुद्ध का सम्पूर्ण दर्शन एवं उपदेश इन चार आर्य सत्यों में निहित है – (१) संसार में दु:ख है (२) दु:खों का कारण है (३) दु:खों को दूर किया जा सकता है, और (४) दु:खों को दूर करने का मार्ग है। बौद्ध दर्शन मानता है कि संसार में जरा - मरण ही दु:ख है। इन सांसारिक दु:खों को दूर करने के लिए भगवान बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग बतलाया है। वे मार्ग है।

(१) सम्यक् दृष्टि) (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक, स्मृति और (८) सम्यक् समाधि।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर भारतीय दर्शन में दु:ख के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा साथ ही मोक्ष की प्राप्ति एवं उसके मार्ग को भी बताया गया है। कुछ पाश्चात्य दार्शनिक भारतीय दर्शन को निराशावादी कहा है लेकिन यह आरोप सही नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यहाँ के सभी दार्शनिक विश्व को दु:खमय मानते हैं परन्तु वे विश्व के दु:खों को देखकर मौन नहीं रहते, बल्कि वे दु:खों का कारण जानने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक दर्शन यह आश्वासन देता है कि मानव अपने दु:खों का निरोध कर सकता है। 'दु:ख निरोध' को भारत में मोक्ष कहा जाता है। भारतीय दर्शन में मोक्ष और मोक्ष के मार्ग की अत्यधिक चर्चा की गई है जिसके कारण भारतीय दर्शन को निराशावादी कहना भूल है। प्रो० मैक्समूलर ने ठीक कहा है – "चूँकि भारत के सभी दर्शन दु:खों को दूर करने के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करते हैं, इसलिए उन्हें साधारण अर्थ में निराशावादी कहना भ्रामक है।[११५]

कर्म एवं पुनर्जन्म : भारतीय धर्म एवं दर्शन में 'कर्म' सिद्धांत' एक अति महत्वपूर्ण विषय के रूप में चिन्तन किया गया है। चार्वाक को छोड़कर भारत के सभी दार्शनिक चाहे वह वेद विरोधी हों अथवा वेदानुकूल हों, कर्म के नियम को मानते हैं। वर्तमान काल में भी प्राय: हर भारतीय 'कर्म सिद्धान्त' में विश्वास करता है। कर्म - सिद्धान्त का पुनर्जन्म सिद्धान्त के साथ गहरा सम्बन्ध है। जो व्यक्ति कर्म सिद्धांत में विश्वास करता है वह पुनर्जन्म सिद्धान्त में भी विश्वास करता है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य जो कुछ करता है उसका फल अवश्य मिलता है, चाहे इस जनम में, चाहे अगले जन्मों में। इतना ही नहीं, वह यह भी स्वीकार करता है कि वह इस समय जो कुछ भी भोग रहा है वह सब उसके पूर्व कर्मों या जन्मों का फल है। कर्म सिद्धान्त का अर्थ है **"जैसा हम बोते हैं, वैसा ही हम काटते हैं"**। इस नियम के अनुकूल शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। इसके अनुसार **कृतप्रणाश** अर्थात् किए हुए कर्मों का फल नष्ट नहीं होता है

Scanned with CamScanner

तथा **अकृतम्युपगम** अर्थात् बिना किए हुए कर्मों के फल भी नहीं प्राप्त होते हैं। हमें सदा कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। सुख और दुःख क्रमशः शुभ और अशुभ कर्मों के अनिवार्य फल माने गए हैं। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त, 'कारण नियम' है जो नैतिकता के क्षेत्र में काम करता है।

भारतीय दर्शन में कर्म- सिद्धान्त का प्रमुख विवेचन हमें योग-दर्शन में प्राप्त होता है। योग दर्शन के अनुसार मनुष्य जितना भी कर्म करता है उनका संस्कार उसके चित्त पर पड़ता है। ये संस्कार मूलतः दो प्रकार के होते हैं – 'सबीज' और 'निर्बीज'। जीवन्मुक्त या समाधि स्थित व्यक्तियों के जिनकी चित्तवृत्ति का निरोध हो चुका है - कर्मों के संस्कार निर्बीज है। वे किसी प्रकार के फल को उत्पन्न नहीं करते। शेष, सभी सामान्य व्यक्तियों के संस्कार सबीज होते हैं अर्थात् किसी न किसी रूप में फल को उत्पन्न करने वाले होते हैं। योग दर्शन में कर्म सिद्धान्त को खेती की उपमा द्वारा समझाने का प्रयास किया है। योगसूत्र (२,२) में यह कहा गया है कि क्रिया योग से क्षीण हुए क्लेशों को प्रसंख्यानरूप अग्नि में दग्ध कर दग्ध बीज के समान उत्पादक शक्ति से रहित कर दिया जाता है। योगदर्शन में यद्यपि ईश्वर को सत्ता की स्वीकार किया गया है किन्तु कर्मों के फल प्रदान करने में ईश्वर का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता। यहाँ कर्माशय वासनाओं की सहायता से स्वयं ही अपना फल प्रदान करते हैं।

कर्म सिद्धांत का बीज सर्वप्रथम हमें वेद में मिलता है। वैदिक काल के ऋषियों को नैतिक व्यवस्था के प्रति श्रद्धा की भावना थी। वे नैतिक व्यवस्था को **'ऋत'** कहते थे। जिसका अर्थ होता है 'जगत की व्यवस्था'। जगत् की व्यवस्था के अंतर्गत नैतिक व्यवस्था भी समाविष्ट थी। यह ऋत का विचार उपनिषद् दर्शन में कर्मवाद का रूप ले लेता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन में भी, अन्य दर्शनों की तरह यह स्वीकार करता है कि मनुष्य के प्रत्येक कर्म का फल उसे मिलता है। अच्छे कर्मों का फल सुख एवं बुरे कर्मों का फल दुःख होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जीव जो कुछ कर्म करता है, उसका संस्कार आत्मा पर पड़ता है। इस संस्कार का नाम 'अदृष्ट' है। इस अदृष्ट के अनुसार ही जीव को अपने कर्मों का फल मिलता है। अच्छे कर्मों का अदृष्ट 'धर्म' या 'पुण्य' कहलाता है और

अपने बुरे कर्मों का अदृष्ट 'अधर्म' या 'पाप' कहलाता है। योगदर्शन के कर्माशय और मीमांसा दर्शन के 'अपूर्व' अधर्म' या 'पाप' कहलाता है। योगदर्शन के कर्माशय और मीमांसा दर्शन के 'अपूर्व' का नाम यहाँ अदृष्ट है। अदृष्ट रूप में स्थित सभी संस्कार कभी न कभी फल उत्पन्न करते हैं। कभी शीघ्र कभी देर से, कभी इस जन्म में, कभी आगे के जन्मों में।[१११]

मीमांसा दर्शन में 'कर्म सिद्धान्त' को 'अपूर्व' कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'अदृष्ट' का संचालन ईश्वर के अधीन है। 'अदृष्ट' अचेतन होने के फलस्वरूप स्वयं फलवान नहीं होता। मीमांसा का विचार न्याय-वैशेषिक के विचार का खण्डन करता है, क्योंकि मीमांसा मानती है कि कर्म-सिद्धांत स्वचालित है। इसे संचालित करने के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है।

अद्वैत - वेदान्त दर्शन भी कर्म-सिद्धांत को स्वीकार करता है। इस दर्शन के मतानुसार मनुष्य जो भी प्राप्त करता है अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त करता है। मनुष्य जो कुछ भी करता है उसके संस्कार, जिन्हें उसने "अनुशय" कहा है, उसके अन्तः करण पर पड़ते हैं।ये संस्कार इस जन्म के भी होते हैं और पिछले जन्मों के भी। ये तीन प्रकार के होते हैं: (१) प्रारब्ध कर्म - ये वे कर्म हैं जिनके विषय में जन्म प्रारंभ से ही यह निश्चित होता है कि ये इस जन्म में फलीभूत होंगे (२) संचित कर्म-जो पिछले जन्मों से एकत्रित हुए हैं। और इस जन्म में भी फलीभूत नहीं होते (३) संचीयमान कर्म -जो इस जन्म के कर्मों द्वारा प्राप्त हुए हैं। कभी आगे फलीभूत होंगे। न्याय-वैशेषिक के समान शंकर यह मानते हैं कि कर्म - संस्कार अचेतन होने के कारण स्वयं फल प्रदान करने में असमर्थ है। उनके अनुसार कर्म स्वयं अस्थायी होने के कारण किसी अगले जन्म में फल नहीं प्रदान कर सकता तथा वे मानते हैं कि यद्यपि मीमांसा सम्मत "अपूर्व" जैसा संस्कार होता है किन्तु यह स्वयं काष्ठवत् अचेतन होने के कारण फल प्रदान नहीं कर सकता। काल और स्थान का चयन करने में असमर्थ है। शंकर यद्यपि मुक्ति के लिए केवल ज्ञान को अवश्य मानते हैं कि किन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक है, जिसके लिए काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग आवश्यक है।

Scanned with CamScanner

विशिष्टाद्वैत का कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी मत बहुत कुछ अद्वैतवाद जैसा ही है। किन्तु जहाँ शंकर मोक्ष के लिए केवल ज्ञान को आवश्यक मानते है वहाँ रामानुजाचार्य कर्म, ज्ञान, भक्ति और 'प्रपत्ति' या शरणागति (अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करना) आवश्यक मानते हैं। विशिष्टाद्वैत के अनसुार मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म आवश्यक है किन्तु अकेला कर्म पर्याप्त नहीं है, ईश्वर की कृपा भी आवश्यक है।

बौद्ध दर्शन में भी अन्य दर्शनों की तरह 'कर्म-सिद्धान्त' के बारे में चिन्तन किया गया है। बौद्ध दर्शन मानता है कि अज्ञान के कारण किए हुए कर्म अपना संस्कार जीव के ऊपर डालते हैं और ये संस्कार ही उसका भविष्य के नियामक है। इन्हीं संस्कारों पर जीव के प्रत्यय और विचार निर्भर करते हैं जो पुनः शरीर, वाणी और चित्त के कर्मों को उत्पन्न करते हैं। ये कर्म पुनः अपने संस्कार छोड़ते हैं जो भविष्य में फलीभूत होते हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। बौद्धों का मानना है कि अज्ञान के नाश से जन्म-मरण का चक्र टूट जाता है। अज्ञान नाश के लिए बौद्धों ने अष्टांग - मार्ग का विधान किया है। जिसके आठ अंग हैं जिसकी विस्तार से चर्चा पहले की जा चुकी है।

जैन दर्शन का कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त अन्य सभी दर्शनों से भिन्न है। जैन दर्शन के अनुसार 'कर्म' न तो कोई क्रिया है, न "अदृष्ट" जैसा संस्कार। यह एक प्रकार का पुद्गल (Matter) है, जो अत्यंत सूक्ष्म कणों के रूप में सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। वे पुद्गल - कण जीव के सम्पर्क में आते हैं तो जीव में प्रवेश कर उसमें परिवर्तन कर देते हैं ये ही जीव के बन्धन के कारण होते हैं। जीव में ये तब तक बने रहते हैं जब तक जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती। कर्म-पुद्गल जीव में तभी तक प्रविष्ट रहते हैं या चिपके रहते हैं जब तक उनके चिपकने का कारण होता है। जैसे ही कारण समाप्त होता है ये कर्म जीव को छोड़कर अलग हो जाते हैं और जीव मुक्त हो जाता है।[११७] जैन दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति के लिए मुख्य दो बातें बतायी गयी हैं– (१) कर्म-पुद्गल के जीव के प्रति आगमन को रोकना। इसे "संवर" कहते हैं, (२) पहले से प्रविष्ट कर्मों को बाहर फेंकना। इसे "निर्जरा" कहते हैं। संवर और निर्जरा की प्राप्ति के लिए जैन दर्शन ने कठोर आत्मानुशासन का विधान किया है। जैन दर्शन में ईश्वर की सत्ता में

विश्वास नहीं किया गया है, अतः यहाँ कर्म स्वयं अपना फल प्रदान करता है। उसके लिए किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

कर्म-सिद्धांत के विरुद्ध अनेक आक्षेप उपस्थित किए गए हैं। सर्वप्रथम कर्म - सिद्धांत के विरुद्ध कहा जाता है कि यह ईश्वरवाद (Theism) का खंडन करता है। ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर विश्व का सृष्टिकर्त्ता है। ईश्वर ने मानव को सुखी एवं दुःखी बनाया है। परन्तु कर्म-सिद्धांत मनुष्य के सुख और दुःख का कारण स्वयं मानव को बतलाकर ईश्वरवादी विचार का विरोध करता है। कर्म-सिद्धान्त ईश्वर के गुणों का भी खण्डन करता है। ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु आदि कहा जाता है। परन्तु कर्म-सिद्धान्त के लागू होने के कारण ईश्वर चाहने पर भी एक मनुष्य को उसके कर्मों के फल से वंचित नहीं कर सकता। वह व्यक्ति जो अशुभ कर्म करता है, किसी भी प्रकार ईश्वर की दया से लाभान्वित नहीं हो सकता। कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी आरोप लगता है कि कर्मवाद भाग्यवाद को मान्यता देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोग रहा है। अतः किसी प्रकार के सुधार की आशा रखना मूर्खता है। लेकिन कर्म-सिद्धान्त के प्रति यह आक्षेप उचित नही है। कर्म-सिद्धांत बहुत ही व्यावहारिक है। यह हमारी कमियों के लिए हमें सांत्वना प्रदान करता है। हमारे जीवन में आशा का संचार करता है।

पुनर्जन्म भारतीय धर्म, दर्शन एवं परम्परा में पुनर्जन्म की अवधारणा एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में वर्णित है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी दार्शनिक चाहे वो वैदिक हों या अवैदिक पुनर्जन्म या जन्मान्तरण में विश्वास करते हैं। यहाँ तक कि बौद्ध दर्शन, जो संसार में सब कुछ क्षणिक एवं अनित्य मानता है तथा आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करता लेकिन पुनर्जन्म में विश्वास करता है। पुनर्जन्म का अर्थ है पुन-पुनः जन्म ग्रहण करना यहाँ के दार्शनिकों ने माना है कि संसार जन्म और मृत्यु की शृंखला है। पुनर्जन्म का विचार कर्मवाद के सिद्धान्त तथा आत्मा की अमरता की अवधारणा से प्रस्फुटित होता है। माना यह जाता है कि आत्मा अपने कर्मों का फल एक जीवन में नहीं प्राप्त कर सकती है। कर्मों का फल भोगने के

Scanned with CamScanner

लिए जन्म ग्रहण करना आवश्यक है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की अमरता से फलित होता है। आत्मा नित्य एवं अविनाशी होने के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में, शरीर की मृत्यु के पश्चात् प्रवेश करती है। मृत्यु का अर्थ शरीर का अन्त है, आत्मा का नहीं। इस प्रकार शरीर के विनाश के बाद आत्मा का दूसरा शरीर धारण करना ही पुनर्जन्म है।

चार्वाक आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार शरीर की मृत्यु के पश्चात् आत्मा का भी नाश हो जाता है, क्योंकि दोनों एक दूसरे से अभिन्न है। इसलिए यह पुनर्जन्म की सत्ता में विश्वास नहीं करता है। वैदिक काल में लोगों की यह धारणा थी कि जो व्यक्ति अपना कर्म पूर्ण-ज्ञान से नहीं सम्पादित करता है वह पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता है। वैदिक काल का यह पुनर्जन्म विचार उपनिषद् काल में पूर्ण रूप से विकसित हुआ। उपनिषद् में पुनर्जन्म की व्याख्या उपमानों के आधार पर की गई है। जैसे-"अन्न की तरह मानव का नाश होता है और अन्न की तरह उसका पुनः पुनर्जन्म भी होता है।" (कठोपनिषद्)।

गीता में पुनर्जन्म सिद्धान्त की व्याख्या सुन्दर ढंग से की गई है। "जिस प्रकार मानव की आत्मा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से जैसे शैशवास्था, युवावस्था, वृद्धावस्था से गुजरती है उसी प्रकार यह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती है।[१०८]

दूसरा उदाहरण : "जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर नवीन वस्त्र को धारण करते हैं, उसी प्रकार आत्मा जर्जर और वृद्ध शरीर त्याग कर नवीन शरीर को धारण करती है।[१०९]

बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या नित्य आत्मा के बिना ही की है, जिसके फलस्वरूप उनका पुनर्जन्म सम्बन्धी विचार विशिष्ट प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक दीपक की ज्योति से दूसरे दीपक की ज्योति को प्रकाशित किया जाता है, उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था का निर्माण होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में पुनर्जन्म की व्याख्या नवजात शिशु के हँसने और रोने से कही गई है। शिशुओं का हँसना और रोना उसके पूर्व - जीवन की अनुभूतियों का परिचायक कहा जा सकता है। सांख्य-योग दर्शन के

अनुसार आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं करती है। पुनर्जन्म की व्याख्या वे सूक्ष्मशरीर द्वारा करते हैं। सूक्ष्म शरीर की स्थूल शरीर के नाश के पश्चात् दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। मीमांसा और वेदान्त दर्शन भारतीय परम्परा में निहित सामान्य पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ही स्वीकार करता है, जिनका विस्तार से वर्णन करना अपेक्षित नहीं है।

पुनर्जन्म सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचकों ने अनेक आपत्तियाँ की हैं। आलोचकों ने पुनर्जन्म के विचार को भ्रान्तिमूलक कहा है क्योंकि मानव अपने पूर्व जन्म की अनुभूतियों को स्मरण नहीं करता। इस परंपरा के अनुसार मानव का मन, शरीर अपने माता-पिता के अनुरूप ही निर्मित होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत मनुष्य को पूर्वजन्म के कार्यों का फल न मानकर अपनी परम्परा द्वारा मानता है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी आलोचना की जाती है कि यह अवैज्ञानिक तथा मानव को पारलौकिक जगत् के प्रति चिन्तनशील बना देता है।

इस प्रकार कर्मवाद एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत भारतीय विचारधारा के अध्यात्मवाद का प्रमाण कहा जा सकता है। जब तक आत्मा की अमरता में विश्वास किया जाएगा तब तक पुनर्जन्म का सिद्धान्त चिन्तन का विषय बना रहेगा तथा साथ ही कर्म - सिद्धान्त के बारे में दार्शनिक अपने विचार प्रस्तुत करते रहेंगे।

संदर्भ

१. व्योमवती (चौखम्बा) पृ०-४४
२. युक्तिरपि दर्शनस्पर्शनयोरेके विषयत्वेन प्रतिसन्धानम्। न्यायवार्तिक (ईस्टर्न बुक लिंकर्स) १, १, १४, पृ० ७५
३. व्योमवती, पृ० सं० ७७
४. श्लोक वार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, १५१-१५२, शास्त्र दीपिका (निर्णय सागर प्रेस) पृ० ४२
५. आत्मतत्व विवेक, पृ० ७२०
६. न्यायमंजरी, भाग १, पृ० ९२
७. स्वप्राधान्य प्रतीतिरेव द्रव्यत्व प्रतीतिः। न्यायकन्दली (संपूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय वाराणसी) पृ०-३३

Scanned with CamScanner